श्रीराम

पाथेय

श्रीसियारामशरण गुप्त

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

सूची

द्वितीयावृत्ति
१९९५

मुद्रक—श्रीरामकिशोर गुप्त,
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी)

परदेशी

देवि, दूर का परदेशी मै
यहाँ अचानक जब आया ,
तेरी प्रथित पथिकशाला मे
आते ही आश्रय पाया ।

मौन साधकर नभ-दीपो की
मन्द-मधुर अँधियारी मे ,
निश्चल रजनी थी, क्रम क्रम से
सोने की तैयारी में ।

पर तू अपने द्वार खुले रख ,
बाट जोहती थी मेरी ;
क्या जानूँ, शीतल जल कब से
लिये खड़ी थी झारी मे ।

पूछा कुछ कुल-शील न मेरा ,
और न यह—'तू क्या लाया ?'
देवि, दूर का परदेशी मै ,
यहाँ अचानक जब आया ।

कल्याणीय

श्रीचारुशीलाशरण,

मिला प्रथम तुझसे ही जग में
मुझे बड़े का श्रेय ;
ले भाई, तेरा ही है यह
अग्रज का पाथेय !

प्रबोधिनी
१९९१

तेरा मोहाकर्षण इसको
खींच कहाँ से है लाया ;
हे चिरमहिमान्वित, किस क्षण तू
इसके दृग-पथ में आया ?

प्रति पल आश्वासन दे दे कर
दिन भर तूने इसे छला ;
तू जो निकट ज्ञात होता था
इतनी दूर यहाँ निकला !

मानो कुछ क्रीड़ा-पूर्वक ही
होकर भी तू प्रौढ़-प्रवीण ,
इस शिशु को पीछे दौड़ा कर
आगे आगे स्वयं चला !

वार वार सोचा है इसने—
तुझको अब पाया, पाया !
तेरा मोहाकर्षण इसको
खींच यहाँ तक है लाया ।

निद्रा ने आकर दुलार कर
    इसे गोद में सुला लिया ;
निज अञ्चल-पट से मस्तक का
    स्वेद पोंछ, श्रम भुला दिया।

धन्य पथी !—यद्यपि सुस्थिर ही
दीख पड़ रहा है तन से
पर पहाड़ पर स्वप्न-लोक में
विचर रहा है तू मन से।

कभी इधर तो कभी उधर हो
ऊपर चढ़ता जाता तू ;
बढ़ता जाता छूट छूट कर
भूल-भ्रान्ति के बन्धन से।

इस यात्रा का यह विराम भी
    तूने निष्फल नहीं किया ,
निद्रा ने जब स्नेह-दान कर
    तुझे गोद में सुला लिया।

× × ×

जागृत है यात्री,—जागृत है
सुप्रभात आल्हाद-स्वरूप !
चमक उठी फिर गिरिचूड़ा वह
अरुण-हास में अतुल अनूप ।

तो चल पड़ !—उस विफल दिवस का
बोझ हो गया है हलका ;
आज चराचर के प्राणों में
जीवन है छलका-छलका !

यह दिन भी यदि गया मार्ग में
तो इसकी चिन्ता ही क्या ?
निशि हो, निद्रा हो अभाव तो
कहीं नहीं शयनस्थल का ।

तू ऊपर होगा, पद-नीचे
होंगे विफल दिनों के स्तूप ;
चल, नित नया प्रकाश लायगा
सुप्रभात आल्हाद-स्वरूप !

ज्येष्ठ शुक्ल
१४–'९०

नव-जीवन

अहा ! अचानक प्रबल वेग से
मुझमें नव-जीवन आया !
आया, हाँ आया आया !
तरल-तरङ्गों में उठ इसने
तन को, मन को लहराया,
लहराया, हाँ लहराया !

मुझ-जैसे छोटे नाले में
जहाँ नीर का नाम न था,
सदानीर नद के रथ का रव
घर्घर स्वर से है छाया।
छाया, हाँ छाया छाया !

पाथेय

यदि न रोकता ओ कण्टक, तू
मुझको निज तनु भेंट ,
काल-वधिक क्षण में ही मेरा
कर लेता आखेट ।

बन्धु, तुझे कण्टक समझा था ,
तू तो निकला फूल !
समझा था प्रतिकूल तुझे, पर
तू तो था अनुकूल !

आषाढ़ शुक्ल
५–'९०

प्राप्त हुआ तुझको सुयोग यह कैसा नया,
आके तुझे छू गया
अकाल काल एक क्षण!
प्राप्त हुआ तेरे पास,
आप ही विना प्रयास
सत्य-तीर्थ का पुनीत रेणुकण!

कार्तिक शुक्ल
१—'८५

प्रणाम

[१]

प्रणत प्रणाम !
प्रेमयुत शत शत प्रणत प्रणाम !

देखकर यह समुदाय समाज ,
जान पड़ता है मुझको आज ,
सभीसे है मेरी पहचान ;
सभीसे है सम्बन्ध महान !
विगत जन्मों में भी बहु बार
मिले है हम सब इसी प्रकार ।
हँसे-खेले है मिल-जुल संग ,
रहा है प्रेम-प्रसंग अभंग ।

झट तूने झोली पसार दी
मेरी ओर निहार ;
ऐ झलमल-झलमल है इसमे
मणि-रत्नालंकार !

शत-शत-संख्यक श्रीमन्तो का
राशि-राशि धन-मान
इस लघु झोली मे नीचे ही
लिये हुए है स्थान !

खड़ा रहा कुछ देर स्तब्ध मै
बहु विस्मय के साथ ;
अनजाने ही झुके अचानक
मेरे दोनो हाथ।

धन्य अहा ! देखा मैने तब ,—
तू सन्तुष्ट महान ;
सब मणि-रत्नो के ऊपर है
मेरा वह लघु दान !

माघ कृष्ण
१—'१०

नहीं अब यद्यपि वह सब याद ,
तदपि उसका आल्हाद-विषाद
नहीं हो गया समस्त समाप्त ;
अभी तक है उर उर में व्याप्त ।
तभी तो एक तनिक-सी दृष्टि
कर गई अतुल पुलक की वृष्टि ।
न होने पर भी कारण ज्ञात ,
हो गया है रोमांचित गात ।
बोल कर दो ही मीठे बोल ,
उठाकर एक मृदुल हिल्लोल ,
अरे भाई, तुममें से कौन
हो गया मेरे भीतर मौन ?
प्रणत प्रणाम !
उसे है शत शत प्रणत प्रणाम !

[२]

प्रणत प्रणाम !
सभीको शत शत प्रणत प्रणाम !

विदा के समय

जाता हूँ जाने दो मुझको ,
हूँ मै सरित-प्रवाह ;
जाकर फिर फिर आ जाने की
मेरे मन में चाह !

आह कैसा मेरा अविवेक !
कहूँ कैसे,—तू है बस एक ?
एक ही हो,—मैं तो साल्हाद
आज लूँगा सहस्रशत स्वाद !
तुम्हींमें से किस किसके गेह ,
तुम्हींमे से किस किसका स्नेह ,
न जानें पाकर कितने काल
हुआ हूँ मै कृतकृत्य, निहाल !
जन्मदात्री की, माँ की, गोद ;
पिता का प्रेम-प्रपूर्ण प्रमोद ;
बहिन का शुचि-स्निग्ध वर्त्ताव ;
बड़ो की वत्सलता का भाव ;
अन्य स्वजनो का प्यार-दुलार
पा चुका मै फिर फिर बहु वार !
अयुत जन्मो की भी पथ-श्रान्ति
हुई तब तो मेरे हित शान्ति ।
आज जो कुछ मुझमे अभिराम ,
पूर्व का ही है वह परिणाम ।
किन्तु हा ! कैसे हो यह ज्ञान
कि किससे पाया है क्या दान ?

सिन्धु में मेरा घट भर नीर
किस तरह खोजूँ मै अगभीर ?
किन्तु मै आज नहीं हूँ क्षुद्र ;
हुआ मेरा ही निखिल समुद्र ।
प्रणत प्रणाम !
सभीको शत शत प्रणत प्रणाम !

[३]

प्रणत प्रणाम !
बन्धुवर, शत शत प्रणत प्रणाम !

पूर्व में मैंने किसी प्रकार
किया हो यदि कुछ दुर्व्यवहार ;
निरंकुश होकर क्रूर, अबाध
किया हो गुरुतर गुरु अपराध ;
अकारण ही करके विद्वेष
हृदय को पहुँचाई हो ठेस ,
क्षमा उसके निमित्त शत वार
माँगता हूँ मै हाथ पसार ।

नहीं हैं स्वयमपि यद्यपि याद
मुझे अपने वे प्रचुर प्रमाद ;
आज के मेरे दोष तमाम
उसी दुष्कृति के है परिणाम।
इन्हे भूलोगे प्रिय, किस भाँति ?
भुलाना होगा, हो जिस भाँति।
जन्म-जन्मान्तर से चिर काल
भूल जाने को प्रकृति विशाल
रही है तुममे परम विचित्र ;
यहाँ भी रहने दो वह मित्र !
प्रणत प्रणाम !
आज है शत शत प्रणत प्रणाम !

आश्विन कृष्ण
५–'८५

उत्सुक

साथ में कर दे कुछ पाथेय।
जाने दे, निदेश दे मातः,
प्राप्त करूँ कुछ श्रेय।

पड़ा रहूँ घर भीतर कब तक,
कर ही सका यहाँ क्या अब तक;
निकलूँगा न यहाँ से जब तक
पाऊँगा क्या ज्ञेय ?
साथ में कर दे कुछ पाथेय।

तेरा दूध पिया जी भर कर,
पचा सकूँगा उसे न घर पर।
बाहर निर्भय बिचर बिचर कर
पाऊँ नव-बल प्रेय,
साथ में कर दे कुछ पाथेय।

जाकर देखूँ मुक्त भुवन में,
पथ, प्रान्तर, पुर, निर्जन वन में,
वास कर रहा है मन मन में
तेरा ही गुण गेय;
साथ में कर दे कुछ पाथेय।

तेरा वरद पाणि ले सिर पर,
घूमूँ शुभाशीष से घिर कर।
नवोल्लास-पूर्वक घर फिर कर
पूजूँ ये पद ध्येय।
साथ में कर दे कुछ पाथेय।

माघ शुक्ल
३–'८५

विदा

माँ, मैने समझा था—मुझको
जाने दे न सकेगी तू ।
मुझे निरा शिशु जान, भ्रमण-फल
पाने दे न सकेगी तू ।
पर माँ, कातरता न दिखा कर
तूने विदा किया मुझको ,
जो माँगा, जो कुछ चाहा था
वही सहर्ष दिया मुझको ।
गर्व बड़प्पन का मेरा ही
दूर हुआ, मै शिशु निकला !
कैसे अश्रु छिपाऊँ अब ये
जाते समय छोड़ तुझको ?
मेरा झर झर नेत्र-नीर यह
सबके साथ तकेगी तू ,
मै अबोध; मै समझ रहा था ,
जाने दे न सकेगी तू !

विदा

मॉं, तेरी आज्ञा पा ली जब
तब तो जाऊँगा ही अब।
यह आकस्मिक सबल अबलता
दूर हटाऊँगा ही सब।
तुझसे दूर रहूँगा तो क्या ?
स्मृति के संग रहेगी तू।
क्यों न कहीं भी रहूँ, समय पर
आकर बॉंह गहेगी तू।
सुन न भले ही सकूँ जगत् के
झंझट में, कोलाहल में ;
प्रति क्षण, प्रति पल मेरे भीतर
मंगल-कथा कहेगी तू !
नया स्वाद पाऊँ जिससे फिर
भूख बढ़ाऊँगा ही अब ;
माँ, तेरी आज्ञा पा ली जब
तब तो जाऊँगा ही अब।

माघ शुक्ल
४-'८५

उन्मुक्त

आहा यह आलोक उदार !
इस उर के शतदल विकसा कर
करता है स्वच्छन्द विहार।
जाग पड़े उल्लास-हास-शिशु
खगकुल का कलरव लेकर।
तब भी धन्य हुआ है मेरा
पाकर यह मृदुलोज्वल हार।
आहा यह आलोक उदार !

आहा यह आकाश अपार !
अक्षय कवच हुआ है मेरा
दिग्दिगन्त तक दीर्घाकार।
छाया-छत्र रहेगा सिर पर
जाऊँ, रहूँ कहीं पर भी।
एक बूँद पर अतुल उदधि का
है कैसा असीम यह प्यार,
आहा यह आकाश अपार !

आहा यह समीर-संचार !
लाया है मेरे वन-पथ में
किस उपवन का मृदु उपहार ?
उछल उछल कर तरल हो उठीं
ये मानस-लहरावलियाँ ;
जीवन-मंत्र फूँक यह किसने
किया सकल श्रम का परिहार !
आहा यह समीर-संचार !

माघ शुक्ल
१०–'८५

यथास्थान

भूपर ही मै उड़ चला यहाँ
आहा मेरा यह यन्त्रयान !

दारुण, दुरन्त, द्रुतगति बनकर ,
पथ-धूलि-धूसरित निज तनकर ,
यह वायु हॉफ कर सन-सन कर
पीछे पीछे है धावमान ;
आहा मेरा यह यन्त्रयान !

गिरि-शिखरो के वक्षस्थल पर ,
सरिताओ के चंचल जल पर ,
बढ़ रहा एक-सा ही चल कर ;
पथ, पुर, प्रान्तर सब हैं समान ;
आहा मेरा यह यन्त्रयान !

यथास्थान

था अभी अभी किस जगह, कहाँ ,
आ पहुँचा कितनी दूर यहाँ ,
पहुँचा, पहुँचा यह अभी वहाँ !
क्रीड़ा यह है कैसी महान ,
आहा मेरा यह यन्त्रयान !

यात्रा पूरी हो गई अरे !
कैसा यह माया-जाल हरे !
सिर पर पथ की सब धूलि धरे
मेरी स्थिति अब भी यथास्थान !
कैसा, यह कैसा यन्त्रयान !

फाल्गुन कृष्ण
४-'८४

यात्री

[१]

कैसे पैर बढ़ाऊँ मैं ?
इस घन-गहन-विजन के भीतर
मार्ग कहाँ जो जाऊँ मैं ?

कुटिल कँटीले झंखाड़ो में
उत्तरीय उड़कर मेरा
उलझ उलझ जाता है, इसको
कहाँ कहाँ सुलझाऊँ मैं ?
कहीं धँसी है धरा गर्त्तों में
कहीं चढ़ी है टीलो पर ;
मुक्त विहग-सा उड़ जाऊँ जो
पंख कहाँ से लाऊँ मैं ?

[२]

पंख कहाँ से लाऊँ मै !
अरे, पर ही क्या कुछ कम हैं !
क्यो न अभी बढ़ जाऊँ मैं ?

उत्तरीय का क्या, यह तनु भी
क्षतच्छिन्न हो जाने दूं ;
इन शत शत काँटो में बिध कर
लक्ष-लाभ निज पाऊँ मैं ।
गह्वर-टीले इधर-उधर है ,
मुझको पथ देने को ही ;
अपने इन पद-चिह्नो पर ही
नूतन मार्ग बनाऊँ मैं !
कुछ हो, पैर बढ़ाऊँ मैं ।

वैशाख कृष्ण
११–'९०

पूजन

पद-पूजन का भी क्या उपाय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय !

तू अमल-धवल है, मै श्यामल ,
ऊँचे पर है तेरे पद-तल ,
यह हूँ मै नीचे का तृण-दल
पहुँचूँ उन तक किस भाँति हाय !
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय

हो शत-शत झंझावात प्रबल ,
फिर भी स्वभावतः तू अविचल ।
मैं तनिक-तनिक में चिर-चञ्चल ;
मेटूँ कैसे यह अन्तराय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय !

अविरत तेरा करुणा-निर्झर
अगणित धाराओ से झर झर ,
जीवित रखता है जीवन भर
मेरा यह जीवन जड़ितप्राय ;
तू गौरव-गिरि उत्तुङ्गकाय !

हैं जहाँ अगम्य दिवाकर-कर
तेरे गह्वर भी आकर-वर
है ऊँचो से भी ऊँचे पर ;
मन उन तक भी किस भाँति जाय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय !

मार्गशीर्ष शुक्ल
४–'८९

अविराम

हे निकुञ्ज, इस शुष्क विजन में
स्निग्ध-सरस तेरी छाया !
चला आ रहा हूँ मै अविरत ,
रौद्र-तप्त मेरी काया ।

देख दूर से ही शुचि, श्यामल
तेरे ये नव-नव पल्लव-दल ,
मेरा हृदय हो उठा शीतल ।
कण्टक-कुल में एक कुसुम-सा ,
यहाँ कहाँ तू खिल आया ?
हे निकुञ्ज, इस शुष्क विजन में
स्निग्ध-सरस तेरी छाया !

इस दोपहरी में प्रभात की
मृदुता है तेरे घर में ;
शान्ति यहाँ झट आ जाती है
क्रुद्ध प्रभञ्जन के स्वर में ।
प्रखर किरण-भामाएँ आकर ,
किशलय-कोमल शय्या पाकर ,
तनु का ज्वाला-जाल बुझाकर
सुख से सो जाती है तेरे
मधुर माधवी-मर्मर में ;
इस दोपहरी में प्रभात की
मृदुता है तेरे घर में !

पाथेय

आज दूर जाना है मुझको ,
जल्दी में मन है मेरा ;
बन्धु, मुझे इस नव-यात्रा के
पागलपन ने है घेरा ।
आज क्षमा कर, तू जाने दे ,
पथ-सीमा तक हो आने दे ;
पुलक वक्ष भर भर लाने दे ।
लूँगा प्रिय, आतिथ्य लौट कर ,
रहा निमन्त्रण यह तेरा ;
आज दूर जाना है मुझको ,
जल्दी में मन है मेरा ।

वैशाख कृष्ण
१३-'९०

दुर्वार

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू ;
आज प्रकृति-गति है प्रतिकूल ;
भर भर कर हुंकार कोपना
झंझा उड़ा रही है धूल।"

अहा ! धूल ने भी गति धारी ;
शुष्क पत्र भी है नभचारी ,
तज विलास-मन्थरता सारी
हुआ मृदुल मारुत वातूल !
सखे, रोक मत मुझे आज तू ,
प्रकृति आज मेरे अनुकूल ।

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू ,
आज समय-गति है प्रतिकूल ;
रुद्र व्योम घन-जटा खोल निज
लिये हुए है विद्युत्-शूल ।"

शूल अहा ! यह चमक चमक कर ,
पड़ता है मेरे पथ-तम पर ।
इतना भी कम क्या, यदि डग भर
बढ़ जाता हूँ मैं भय-भूल ?
सखे, रोक मत मुझे आज तू ,
समय आज मेरे अनुकूल ।

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू,
ऋतु है यात्रा के प्रतिकूल ;
जल ही जल सब ओर आज है,
डूब गये हैं सब पथ-कूल।"

मेरे मग की खन्दक-खाई,
वर्षा समतल पर है लाई।
अहा! सन्तरण की बन आई,
कण्टक दे न सकेंगे शूल
सखे, रोक मत मुझे आज तू,
सब कुछ है मेरे अनुकूल।

वैशाख कृष्ण
१४-'९०

आल्हाद

आज पड़ती है जहाँ मेरी दृष्टि,
पाती वहीं नूतन रहस्य सृष्टि।
मेरे कान,
सुनते है जो कुछ समस्त वह स्वीय गान।
मेरे प्राण,
जो कुछ है चारो ओर,—
जिसका न ओर-छोर—
हो गये उसीमें हैं विलीयमान।
मेरा आज,
आज चिरकाल में रहा विराज।
मेरे अरे ओ अनन्त,
मुझको बतादे, कहाँ अन्तर्हित तेरा अन्त?

वैशाख शुक्ल
२—'९०

आदान-प्रदान

निज-गुण-जाल से तुम्हारा देश
खींच बड़ी दूर से हे बन्धु, मुझे लाया है।
स्वागत-समादर अशेष—
तब पाया है।

प्रिय इस परिचय-कलाधर की
—प्रेम-सुधाकर की—
प्रथम कला का जन्म, कुछ भी नहीं है ज्ञात,
किस क्षण, कौन-सी द्वितीया में हुआ था कहाँ।

मेरा पहला ही यह दृष्टि-पात ,
पाता है प्रसन्न पूर्णिमा यहाँ ।
जिस क्षण
जो कुछ भी देख-सुन पाता जहाँ ,
चञ्चल अधीर शिशु-तुल्य लुब्ध मेरा मन
झुक झुक पड़ता उसी पर तुरन्त है ;
उत्सुकता होती इस उर में दुरन्त है ।

किन्तु बन्धु, कौतूहलावेश से
पूछते हो जब तुम ,—
मेरे दूर देश में
कैसे हैं कुसुम—
और कैसे लता-गुल्म-द्रुम ;
कैसे पशु-पक्षियों से पूर्ण है वहाँ के वन ;
कैसी मृत्तिका है, जल कैसा और कैसे जन ,
विस्मय में डूब उठता है तब मेरा मन ।
जिन सब क्षुद्र क्षुद्र वस्तुओं की नूतनता ,
मेरी दृष्टियों से घिस घिसके सहस्र बार
मेरे लिए हो चुकी थी दूरगता ;

वे सब तुम्हारे लिए कैसी ज्ञेय ,
कैसी प्रेय ,
कितनी रहस्यागार !

धन्य यह मेरा हुआ आना यहाँ !
पहली ही वार यह जाना यहाँ ,—
भिक्षुक ही बनकर ,
तुच्छता के पंक में ही सनकर ,
व्यर्थ नहीं आया हूँ ;
दुर्लभता मैं भी कुछ साथ निज लाया हूँ ।

अक्षय तृतीया–'९०

जाग्रत

देखा,—देख नहीं सकता कुछ ,
अन्धकूप का है घेरा ।
यहाँ कहाँ आ पड़ा हाय रे !
यह मैं दुविधि का प्रेरा ?

व्यर्थ हुआ क्या साधन सारा ?
सर्प-रज्जु का भी न सहारा ,
भगवन्, हा ! यह कैसी कारा ?

ऐं यह क्या !—मैं खड़ा हो गया ;
कहाँ गया वह भय मेरा !
ओ जागृत, वह स्वप्न मात्र था
पथ है खुला पड़ा तेरा !

अक्षय तृतीया–'९०

मुझ घर-बिछुड़े को बालक-सा,
झट-से हिला लिया तूने।
अतिथि नहीं, कौटुम्बिक करके
निज में मिला लिया तूने।

तेरे इस आँगन में आकर
सुधि मैं भूल गया घर की;
स्रोतस्विनी बहा दी तूने
स्नेह-सुहाग-समादर की।

अपनी हो या किसी और की
माता तो माता ही है;
धन्य हुआ थपकी पाकर मैं
तेरे प्रेमाकुल कर की।

मुझे गोद ले, स्तन्य पिला निज
फिर से जिला लिया तूने;
मुझ घर-बिछुड़े को बालक-सा
झट-से हिला लिया तूने।

स्नेह-सुहाग-समादर इतना
सहन कर सकूँगा कैसे ?
तेरा यह उदार उर, यह मै
भला भर सकूँगा कैसे ?

इतने लाड़-प्यार मे पड़ मै
उच्छृंखल हो जाऊँगा ;
धूल उड़ाकर तेरे ऊपर
तुझको अशुचि बनाऊँगा।

जो मुझसे पहले आये है,
अथवा आने वाले है,
उनके विचरण-मार्ग-मध्य मै
कण्टक ही बिखराऊँगा।

तेरे मन की मौन व्यथा वह
हाय ! हर सकूँगा कैसे ?
स्नेह-सुहाग-समादर इतना
सहन कर सकूँगा कैसे ?

निभा सकूँगा हाय ! न तेरी
    प्रीति-रीति मैं दिन दो ही ;
बिदा बिना माँगे चल दूँगा ,
    हूँ मैं ऐसा निर्मोही !

मग्न-पात्र में रिक्त कर रही
अपना पुण्य-सुधा घट तू ;
निरी छाँह पर छाँह कर रही
फैला निज अञ्चल-पट तू ।

पर तू तो 'तू' है, मैं क्या हूँ
चिन्ता तुझे नहीं इसकी ;
तो जितना पी सकूँ, पिला दे
यह रस और मुझे झट तू ।

बुरा न मान, तुझे भूलूँ यदि
    भूला मैं अपने को ही ;
निभा सकूँगा हाय ! न तेरी
    प्रीति-रीति मैं दिन दो ही ।

दो दिन बाद चला जाऊँ जब
यह सुख या यह दुख पाकर,
मेरा स्थान त्वरित भर देंगे
अन्य नवागन्तुक आकर।

तेरे यहाँ लगा रहता है
अविरत यह आना-जाना;
रुकता नहीं अश्रु-जल तेरा
और न स्वागत का गाना।

तेरी एक करुण-मुक्ता ही
जाते समय कहीं पाऊँ,
पा जाऊँगा तो वह सब मैं
जो कुछ है मुझको पाना।

अन्य अतिथियों को लेना तू
यही स्नेह-रस सरसा कर,
दो दिन बाद चला जाऊँ जब
यह सुख या यह दुख पाकर।

ज्येष्ठ शुक्ल
२-'९०

बोध

चला जा रहा था इठला कर,
भटक गया मैं, पथ भूला;
सम्मुख गहन-विजन था, सिर पर
सघन तमिस्रा प्रतिकूला।

कैसा कुटिल वनस्थल है यह!
मुझे व्यर्थ ही ललचाता,
दो डग सुगम ठौर दिखला कर
झट-से वचन पलट जाता।

धरा इधर दुबकी बैठी है,
उधर झाँकती है कुछ उठ;
मूर्तिमन्त भय क्रूर कटक ले
मानों अभी चढ़ा आता।

आगे किसी तरह बढ़ता हूँ
    पर जा पड़ता, हूँ पीछे ;
थल के इस आवर्त्त-जाल से
    बाहर निकल नहीं पाता ।

है यह ऐसा स्थान, यहाँ पर
    वन-पशुओं से बचने को ,
कठिन कँटीले झंखाड़ों का
    स्नेहालिंगन है भाता ।

बड़ी रात बीते सहसा मैं
    पहुँचा ठीक-ठिकाने पर ,
काँटों को पद-रक्त पिलाता ,
    पद पद पर ठोकर खाता ।

ज्यों ही पथ दीखा, झट-से मैं
    दौड़ पड़ा हूला-फूला ;
जान गया पथ का महत्व अब ,
    जब मैं भटक उसे भूला ।

ज्येष्ठ शुक्ल
५–'९०

परस्पर

कूप, तृषातुर हो यहाँ आया मैं ;
तेरे पास जल है ,
शीतल है, मृदु है, सुनिर्मल है ;
तेरा निधि-कोष तलातल है
और बड़ी माँग नहीं लाया मैं ।

उत्तर में कूप यह कहता—
बन्धु, यहाँ नीचे मैं रहता ।
धन्य तुम आये !—इस नीचे के थल से
मुझको उबार लो निजस्व गुण-बल से ।

हाय ! अरे कूप, गुण पाऊँ कहाँ ?
गुण के बिना भी यहाँ
तीक्ष्ण तृषा लगती ,
ऐसी यह जगती !

कूप फिर कहता—
बन्धु, यहाँ नीचे मै रहता ;
ऊपर है ऐसे भी सलिल-स्रोत
ओतप्रोत ,
जो गुण विना ही नित्य अविरल
दान किया करते है स्वच्छ जल ;
किन्तु हाय ! ऐसा कहाँ मेरा रूप ?
मै हूँ यहाँ नीचे का कृपण कूप ।
निज गुण से ही तुम आके यहाँ
मेरे पास ,
मेरे निम्न जीवन को ऊपर उठाके वहाँ ,
शान्त करो बन्धुवर, उच्चता की मेरी प्यास ।

ज्येष्ठ शुक्ल
६—'९०

क्षणिक

क्षण भर ही सुन पाई मैंने
कोइल, यह तेरी कल-कूक ;
और न जाने किस वन को तू
कहाँ उड़ गई होकर मूक ।

यह क्षण—जिसके क्षुद्र पात्र में
निखिल सुधा भर दी तूने—
यह क्षण—जिसकी क्षणभंगुरता
चिर जीवित कर दी तूने—

महाकाल की खनि से निकला
अतुलित एक रत्न बन कर ;
न-कुछ सीप में स्वाति-बिन्दु की
यह मुक्ता धर दी तूने !

मेरे नीरव-निर्जन पथ को
मुखर-मन्त्र मिल गया अचूक ;
कम क्या, यदि सुन सका क्षणिक ही
कोइल, वह तेरी कल-कूक ?

क्षण भर ही पा सका वायु, मैं
तेरी मन्द-मधुर झकझोर ,
और सुरभि ले वह अपनी तू
चली गई जाने किस ओर ।

यह क्षण—जिसके दौने में तू
सब मधु-रस निचोड़ लाई—
यह क्षण—जिसमें गत-वसन्त को
फिर से यहाँ मोड़ लाई—

महाकाल के मस्तक पर है
मलयज चन्दन का टीका ;
एक तान मे सब रागो का
स्वर-संयोग जोड़ लाई !

मेरा ग्रीष्म-खिन्न यात्रापथ
सरस-हो गया हर्ष-विभोर ;
कम क्या, यदि पा सका क्षणिक ही
तेरी मन्द-मधुर झकझोर ?

ज्येष्ठ शुक्ल
८–'९०

बीच में

तेरी उच्च हेम-चूड़ा पर
अपना लक्ष प्रतिष्ठित कर,
हे गिरिवर, यह नूतन-यात्री
चलता रहा आज दिन भर।

उस चूड़ा पर पहुँच कभी का
दिनकर उतर गया उस पार;
यहाँ श्रान्त हो बैठ गया यह
रखकर उर पर गुरु-तम-भार।

विनतमुखी सन्ध्या चुपके-से
आकर जगा गई यह दीप,
इस प्रदीप मे और हो उठा
अन्धकार का प्रखर प्रसार।

एकाकी है यह नव-यात्री
इस उपत्यका में गिरिवर,
तेरी उच्च हेम-चूड़ा पर
अपना लक्ष प्रतिष्ठित कर।

रात हो गई यहीं बीच में
पद-तल तक आते-आते ;
किसे ज्ञात, क्या होगा तेरी
वह चूड़ा पाते-पाते ।

सुचिर-कुमारी की पावन-श्री
उसके मुख पर है मृदुतर ;
रहती है वह उच्च अट्ट पर ,—
शत शत खंडो के ऊपर ।

उनकी वे सोपान-श्रेणियाँ
आँख-मिचौनी-सी करके ,
चक्कर खाती हुई गई है
अनुधावक जन से छिपकर ।

आया यह उस दुर्गमता की
गुण-गरिमा गाते-गाते ;
रात हो गई यहीं बीच में
पद-तल तक आते-आते ।

रत्न की आभा

रत्नराज, इस दुर्गम खनि में
होकर दीन मलीन,
रहते हो क्यों बुझे बुझे-से
दूर दूर द्युतिहीन ?
तुम्हें प्राप्त कर बढ़ जावेगा
राजमुकुट का मोल,
कंकड़ और पत्थरों में है
यहाँ तुम्हारी तोल।

बन्धु, यही खनि जननी मेरी,
मैं हूँ इसका जात ;
लालन करती अन्ध स्नेह से
यह मेरा दिन रात।

ऊपर की यह दुर्गमता भी
कर न सके जो पार,
कैसे दे दे उस नगण्य को
वह निज उर का हार ?
आ पहुँचे तुम, लाँघ नदों को
विजन वनों को भेद;
फिर फिर बाधा के पहाड़ की
छाती में कर छेद।
कंकड़ और पत्थरों में ही
रहता मेरा स्थान,
करते यहाँ न आकर यदि तुम
यह निज प्रेम प्रदान।
इसी प्रेम की ही आभा से
युग युग तक चिरकाल,
उद्भासित हो बना रहेगा
उन्नत मेरा भाल।

ज्येष्ठ पूर्णिमा
१९९०

दोनों ओर

पाकर दुरन्त विस्मयातिरेक
एकाएक
निज गति रोक कर पान्थ हो गया खड़ा,
ज्यों ही उसे दीख पड़ा,
एक ग्राम्य बालक विशाल वट के तले,
मुट्ठी भर कंकड़ ले,
आपस में उनको लड़ाता हुआ,
क्रीड़ा-रत, गुन-गुन गान कुछ गाता हुआ।
कंकड़ ये, कंकड़ कदापि नहीं,
कंकड़ भी होते भला ऐसे कहीं ?
ये तो हैं अमूल्य रत्न,
निकल पड़े हैं खान में से जो विना प्रयत्न !

देख भली भाँति उन्हें आगे कुछ झुक कर
बोला पान्थ थोड़ी देर रुक कर—

"और भी है कंकड़ क्या ऐसे यहाँ ?
मुझको बता दे अरे, तुझको मिले ये कहाँ ?"

देख अपरिचित को,
प्रश्न सुन विस्मित हो
बोला ग्राम्य बालक—"मै दूर उस दुर्गम से
चुन कर बीन इन्हें लाया परिश्रम से।
वन में अकेले वहाँ जा सकते है क्या सभी ?
मिलते वहाँ भी ये कभी कभी।"

बोला पान्थ हो अधीर—"कंकड़ ये दे दे मुझे ;
इनसे मुझे है काम।
इनके लिए मै तुझे
दूँगा भरपूर मुहँमाँगा दाम।"

कौन यह आकर यहाँ फँसा ?
खिल खिल बालक तुरन्त हँसा।
सत्वर ही किन्तु हँसी रोक कर
बोला वह आगात की ओर अवलोक कर—

"मोल इनका है बड़ा, यो ही नहीं दूँगा मै ,
दिन भर घूमा फिरा हूँ मै जब
पाया कठिनाई से इन्हें है तब ।
कौड़ी कम पूरे एक पैसे से न लूँगा मै ।"

दीप्ति से दमक उठा पान्थ का पृथुल भाल ;
होकर निहाल
झट बोल उठा—'पक्की रही !
कहते हो तुम जो तुम्हे दूँगा वही, दूँगा वही ।"

बालक ने डूबकर विस्मय में
तत्क्षण ही निज कर-तल पर
देखी एक रौप्य मुद्रा शुभ्र समुज्वलतर ,
कंकड़ों के विनिमय में ।
हो गया कृतार्थ वह ,
जानकर, धन है यथार्थ यह ।

दृढ़ निज मुट्ठी किये
क्षण भर तो वह रहा अवाक ,
और फिर इधर-उधर ताक
उसने लगाई एक दौड़ घर के लिए ।

पाथेय

चलते ही चलते विना प्रयास ,
पाके यह ऐसा नया
हर्षोल्लास ,
पान्थ भी तुरन्त ही चला गया ।
दर्शक को दीख पड़ा,—दोनो ओर
ले रहा था उद्वेलित हर्ष एक-सी हिलोर !

आषाढ कृष्ण
५–'९०

चोर

कुछ हो आज बनूँगा चोर !
अभी अँधेरा है, प्राची में
नहीं अरुण-आभा की कोर ;
हूँगा, हाँ हाँ हूँगा चोर !

पुर-वासी हैं निज निज घर में ;
तरु-वासी निज निज कोटर में ;
नीरवता है पथ-प्रान्तर में ,
सुप्ति छा रही चारो ओर ;
कुछ हो, आज बनूँगा चोर !

सम्मुख ही तो है धन मेरा ,
किसलय-मृदु ऊपर का घेरा ;
लोभ हृदय में है बहुतेरा ,
कर लूँ मैं निज निशि का भोर ।
कुछ हो, आज बनूँ मैं चोर !

जितना बने सभी मैं ढोलूँ;
हलका हूँ कुछ भारी हो लूँ ;
द्वार पर्ण-मय है, अब खोलूँ ;
उठी अहा ! आमोद हिलोर !
धन्य हुआ बन कर मैं चोर !

लुट कर भी खिल उठी, भली यह ,
अच्छी धनवन्ती निकली यह !
कौन अरे—है कुसुमकली वह
और पवन मैं हूँ मुहँजोर ;
नहीं नहीं, मैं तो हूँ चोर ,
चोर, अहा सचमुच ही चोर !

आषाढ़ कृष्ण
७–'९०

पुलक-प्राप्ति

जान गया रे, जान गया !
तेरी क्षणप्रभा मे ही मैं
पुलक, तुझे पहचान गया !

मेरी काली सघन निशा में
तड़ित्तेज तू ले आया ,
क्षण भर भी इन क्षुद्र दृगों ने
सहन न उसको कर पाया ।
कहीं अचल तू हो जाता ,
तो खो जाता प्राप्त विभव भी
हुआ मुझे यह ज्ञान नया ;
तेरी क्षणप्रभा में ही मैं
पुलक, तुझे पहचान गया !

मान गया, मैं मान गया !
विरल वारि-वर्षा में ही मैं
पुलक, तुझे पहचान गया !

मेरी सूख रही खेती पर
तूने नव-वर्षा ढाली ;
इतने में ही इस धरती पर
फैल गई है हरियाली ।
जम जाता तू कहीं गगन में ,
तो प्लावन में बह जाता झट
मेरा उत्सव-गान नया ,
विरल-वारि-वर्षा में ही मैं
पुलक, तुझे पहचान गया !
जान गया रे, जान गया !

आषाढ कृष्ण
८–'९०

एक बूँद

"मै हूँ कृपण, कहाँ आई तू
    लेकर जीवन भर की प्यास ?
दे सकता हूँ एक बूँद मै ,
    जा तू अन्य धनी के पास ।"
"बस बस, एक बूँद ही दे दे !"
कहा तृषार्त्तो ने खिलकर—
"किसके पास, कहाँ जाऊँ अब
तुझ-से दानी से मिलकर ?

सिकता की कण्टक-शय्या पर
इसी बूँद की आशा में
आतप के पंचाग्नि ताप से
डिगी नहीं हूँ मै तिल भर।

मेरे पुलक—स्वाति के घन हे !
पूरा कर मेरा अभिलाष ;
अधिक नहीं, बस, इस सीपी को
एक बूँद की ही है प्यास।"

आषाढ़ कृष्ण
१३–'९०

पोती दूर कहीं पावस ने
आतप के मुँह पर स्याही ;
उसकी प्रथम विजय-वार्त्ता यह
प्रथम यहाँ मै ही लाया ।
लाया हाँ, मै ही लाया !

उछल उछल कर, छूट छूट कर
उभय तटो की कारा से ,
मुझमें आज असीम उठा है
ऐसा कुछ मैने पाया ।
पाया, हाँ पाया पाया !

प्रलय-राग की एक कड़ी-सी
मेरे मुँह से फूट पड़ी ;
पागल होकर भैरव रव से
'हर हर हर' मैने गाया ।
गाया, हाँ गाया गाया !

जीवन की इस जल-क्रीड़ा में
कूद पड़ा मै ऊपर से ,
मार्ग-प्रस्तरो से भिड़ मैने
फेन-हास ही बरसाया ।
बरसाया, हाँ बरसाया !

जब तक यह पानी है मुझमे
और नाच लूँ मै यो ही ;
कल की कल के लिए आज तो
मुझमे नव-जीवन आया ।
आया, हाँ आया आया !

आषाढ कृष्ण
१४—'९०

तिमिर-पर्व

धन्य आज का यह खग्रास !
बहुत दिनों में जाना मैंने
मुझमें इतना विभव-विलास !
आज पूर्ण मेरा उल्लास !

प्रखर प्रभा को शीतल करके ,
निखिल मधुरिमा उसमें भरके ,
निशि की कुटिल कालिमा हरके
फैलाया मैंने मृदु हास ।
देखो, मैंने देखी अपनी
पुण्य-पूर्णिमा बारो मास ।

किन्तु कहीं यह राहु न आता ,
आकर मुझको नहीं छिपाता ,
देख भला कैसे मै पाता
यहाँ अमावस का आभास ?
मेरे बिना एक क्षण में ही
प्रकृति हुई गति-हीन उदास !

धन्य आज का यह खग्रास !
बहुत दिनो मे जाना मैंने
कितना क्या है मेरे पास ।
पूर्ण हुआ मेरा उल्लास !

ज्यो ही मुझे गगन मे पाया ,
कुमदो ने भी मुद बरसाया ।
जो ला सका राहु भी लाया ,—
उसका प्रेम यही तम-पाश !
इस तम मे ही देखा मैंने
अपना षोड़शकला-विभास !

वही रश्मिमाला सुरुचिर ले ,
उसी सुधाकरता से घिरके ,
लो, यह मै आ पहुँचा फिर से ;
पुनः प्रसन्न उदधि-आकाश ।
तिमिर-पर्व मे आज नहाकर
पूर्ण हुआ मेरा उल्लास !
धन्य आज का यह खग्रास !

आषाढ शुक्ल
१–'९०

अनुकूल

ज्योति-बधू को निज घेरे के
अन्तःपुर में डाल ,
घन-तम ने फैला रक्खा था
घन-पटलो का जाल ।

मैं तो निर्जन वन में ही था
ऐसी निशि में आज ,
नगरो ने भी कर रक्खा था
निर्जनता का साज ।

दक्षिण और वाम दोनो ही
वैर-विरोध विसार ,
तम की भट्टी में गलकर थे
अविकल एकाकार ।

अन्धकार इस निखिल धरा का
एक मात्र था भूप ;
उसकी महाराजधानी मे
मै भी था तम-रूप !

वर्त्तमान होकर भी था यह
भावी-सा अज्ञेय ;
जमकर बैठ गया था ऐसा
जिसे न हो कुछ ध्येय ।

पर मुझको आगे बढ़ना था
ऐसे मे निरुपाय ,
बढ़ा किसी विध अटकल को ही
कर ध्रुव-सत्य-सहाय ।

एकाएक चुभ गया मेरे
पद में कण्टक-शूल ;
इसी घात में ही बैठा था
क्या तू ओ प्रतिकूल ?

अरे, क्रूर, संचित था तुझमे
कब का मेरा पाप ?
खींच लिया निज ओर स्वयं ही ,
था तू किसका शाप ?

कैसे तुझे निकालूँ रे, मै ?
टूट गया तू हाय !
अटका लिया मार्ग में तूने
कर मुझको असहाय ।

अकस्मात तम की छाती पर
करके उल्कापात ,
बिजली कौंध उठी मेघो में ;
उस द्युति की क्या बात !

क्षणिक दृष्टि पाकर परन्तु मैं
चौक पड़ा तत्काल ;
मेरे आगे अतल गर्त्त था
मुहँ बाये विकराल ।

मार्ग-बन्धु

बन्धु, मार्ग में चलते-चलते
अकस्मात तू मुझे मिला ;
नव-प्रभात के पुण्य-योग मे
नव-प्रसून-सा खिला-खिला ।

मृदु-मारुत में था उछाह क्या
तेरी श्वास-सुरभि का ही ?
गान गा उठा मर्मर-स्वर में
चारु-चपल वह मधु-वाही ।

छीन लिया विहगो का कूजन
मेरे उर के भावो ने ,
तेरी मधुर हँसी इस नभ ने
निज में भर लेनी चाही ।

क्षण में ही तू पूर्ण अपरिचित
चिर परिचित की भाँति हिला ;
बन्धु, मार्ग में चलते-चलते
अकस्मात तू मुझे मिला ।

काच-खण्ड होकर भी मुझमें
    तेरा हेम-योग आया ;
तूने क्या पाया, तू जाने ,
    मैंने तो सब कुछ पाया !

इस पथ पर शत शत संख्यक जन
अविरत आते जाते है ;
अपनी ही धुन मे सब कोई
अपने पैर बढ़ाते है ।

वह तू ही था बढ़कर जिसने
इस जन से नाता जोड़ा ;
अन्य—अरे अब अन्य कौन है ?—
तुझमें सभी समाते है !

अब समझा विधि के घर से मैं
    नहीं अकिंचनता लाया ,
काच-खण्ड होकर भी मुझमें
    तेरा हेम-योग आया !

यह पथ ऐसा है, पथ में ही
लय हो जाता है इसका ,
विवश छोड़ना पड़ता उसको
पकड़ लिया है कर जिसका ।

नहीं जानते हम इतना भी
कब तक साथ रहेंगे हम ,
जैसे मिले, बिछुड़ वैसे ही
जाने कहाँ बहेंगे हम !

शत शत छोटी-मोटी गलियाँ
निकल पड़ी है इस पथ से ,
जाने कौन निगल ले किसको ,
यह भी हाय ! सहेंगे हम ।

आज पी रहे हैं जो हम यह
घूँट अरे, वह है विष का ;
यह पथ ऐसा है, पथ में ही
लय हो जाता है इसका ।

बन्धु, व्यर्थ कल की चिन्ता यह
आज आज की ही हो बात ;
है अदृश्य, मुहँ छिपा स्वयं ही
आज किसी कल का उत्पात !

पथ की यह पहचान हमारी
सीमित न हो यहीं तक आज ,
आगे-पीछे के ऊपर यह
नव-गौरव से रही विराज ।

किसी ओर तुम, किसी ओर हम
जावेंगे तब जावेंगे ;
मिलन आज, कल के विछोह की
करलें पूर्त्ति अभी निर्व्याज ।

यह पथ, जहाँ मिले हम-तुम यों
किस गृह से कम है अवदात ?
बन्धु, आज जीवन की जय हो ,
आज आज की ही हो बात !

कार्तिक शुक्ल
११—'९०

नेत्रोन्मीलन

री, तेरी कैसी क्रीड़ा यह !
    मुझे नहीं यह भाई ;
मूँद लिये मेरे दृग तूने
    चुपके-से तू आई ।
भुला न निज मोहक माया में
    सजग मुझे रहने दे ;
इसी कर्म-धारा में ही तू
    अभी मुझे बहने दे ।
कर न सका करना था जो कुछ,
    श्रान्त अभी से कैसी ?
ऐं, तेरे इस कर-स्पर्श में
    तन्द्रालसता ऐसी !

नहीं रहा अपने आपे में ,
सुध-बुध भूली मेरी ;
मेरा मन यह और कहीं था ,
न थी चाहना तेरी ।
कैसे पाऊँ थाह अवश मै ?
तम की यह गहराई ;
मेरे सुप्रभ दिन के ऊपर
कुटिल कुहू-सी छाई ।

"कुहू !—अरे हाँ, वही कुहू हूँ ,
यथा समय मै आई ;
आँखे तो खोलो, देखो यह
कितना क्या मै लाई !"

यह क्या हुआ ! दीख पड़ती थी
तू तो काली काली ,
कहाँ छिपाये थी उस तम में
यह अपूर्व उजयाली ?

मेरी श्रान्त क्लान्त सन्ध्या थी ,
ऊषा मुझे दी तूने ;
पहले तो तन्द्रा, तुरन्त फिर
नव-जागृति की तूने ।
मेरे मन में नव-स्फूर्ति का
ज्वार उठा नूतन तर ;
मर सकता हूँ बार बार मैं
ऐसे नवजीवन पर !
खोल दिये मेरे दृग तूने
पर तू दी न दिखाई ,
थी तेरी ऐसी क्रीड़ा यह ,
मुझे बहुत ही भाई ।

मार्गशीर्ष कृष्ण
४–'९०

एक क्षण

मेरी घड़ी ,
चलते ही चलते तू एक दम
हो गई यहाँ खड़ी,
किंकर्त्तव्यमूढ़ सम ।
आधा ही चक्कर न काट सकी ;
और तू ठिठक गई है, बीच मे ही जकी ।
बीच में ही हो गई है तेरी गति रुद्ध हाय !
हाय ! अब क्या उपाय ?

चञ्चल महा महान ,
काल उसी वेग से है धावमान।
पिछली पड़ी है तू ,
निश्चल खड़ी है तू।
जोह रही बाट क्या किसोकी यहाँ साधे मौन ?
धन्य वह ऐसा कौन ?

धन्य तू स्वयं है धन्य ;
तेरे पास आगया सुयोग आप ही अनन्य !
काल की विराट घड़ी घूम कर
आ गई स्वयं ही यह
तेरे इसी ठौर पर ;
समय अलीक अहा ! तेरा वह
हो गया है ठीक अपने ही आप !
जाना, अब जाना, इसी एक क्षण के लिए ,—
चुपचाप
थी तू खड़ी
साँस तक रुद्ध किये ;
मेरी घड़ी ,
धन्य वह तेरी घड़ी !

शान्ति लक्ष्मी

याद आई बहुत दिनो की बात ।
एक रात
ब्याह के निमन्त्रण को पूरा कर
लौटे आ रहे थे घर,
हम सब आठ-दस जन थे;
श्रान्त और क्लान्त तन-मन थे।
दो दिन की अविश्राम
हर्षोल्लास-हास-युक्त
बाधा-मुक्त
पूरी हो चुकी थी आज धूम-धाम ।

उत्सव के जूठन की पत्तल समेट कर
फेकी जा चुकी थी किसी घूरे पर !
बाहर के रम्य राजभोग से ,
एक मात्र मिष्ट के ही योग से
ऊब-से गये थे हम ;
निज निज गेह पर दृष्टि दिये
उसके चिरन्तन सलौने कटु के लिए
लुब्ध रसनाएँ थी सभीकी सम !

आरोहण-हेतु हम थे अनेक
और थी सवारी बैलगाड़ी एक ।
आई वह पास ज्यो ही
एक दूसरे को झट ठेल त्यो ही ,
जा चढ़े तुरन्त सब उस पर ;
बोल उठा मूक यान 'चर-मर' ।

बोहड़ था मार्ग, कहीं ऊँचा और नीचा कहीं ;
रञ्च भी प्रकाश नहीं

दीख पड़ता था वहाँ।
बैठ गया था जो जहाँ
बैठा वहीं पर था
यान वह मुक्त काल-कोठरी का घर था।
एक दूसरे से गॅसे
अपने ही आप हम थे फॅसे।
गाड़ी के कठोर पहिए कभी
नीचे किसी ठौर जब पड़ते
एक दूसरे के सिर आपस में लड़ते ;
और भली भाँति हम हिल-डुल पाते तभी !

उस कटु-यात्रा में ,
विपदा की पूर्ण तम मात्रा में ,
चल कर सारी रात
एकाएक सुप्रभात
देखा जब
जान सके हम तब ,—
ऐसी भीड़ में भी करके प्रवेश
तुच्छ कर काय-क्लेश

निद्रा दे गई है हमे शान्ति-धन।
विस्मय की बात, हम सब थे प्रसन्न-मन !

उस घटना का तत्व
उसका महा महत्व
इतने दिनो मे आज मुझको हुआ है ज्ञात।
भय की नहीं है बात,
आज यदि उर मे अशान्ति है,
चारो ओर संकट है, भीति और भ्रान्ति है।
सुन तू अरे मेरे मन,
श्रान्त-क्लान्त खिन्न-तन,
तेरी शान्ति-लक्ष्मी शान्ति लायगी,
कोई विघ्न-बाधा रोक उसको न पायगी !

मार्गशीर्ष कृष्ण
११-'९०

समाधान

[१]

"अरे ओ मेरे मार्ग महान ,
तुझे तम ही तम क्यों भाया ?
मेट कर दिन में ही दिन-मान ,
तिमिर में तूने क्या पाया ?"

बन्धु, यदि है तुझको कुछ इष्ट
नहीं तो यह तम भी भय-श्लिष्ट !
खुले में पाकर यहीं समक्ष
प्राप्त कर ले यदि तू निज लक्ष्य ,
बता तो किस गौरव के साथ
रख सकेगा तू उन्नत माथ ?
ठोकरें खा खा कर शत बार ,
भेट विपदा को बाहु पसार ,

करेगा अधिकृत तू जो सत्व ,
उसी पर होगा तेरा स्वत्व ।
हृदय का प्रोज्वल ओज उजाल
छिन्न कर देगा तू तम-जाल
तभी होगा तुझको यह ज्ञान ,
मुझे तम ही तम क्यो भाया ;
अरे ओ मेरे पथिक सुजान ,
तिमिर में क्या मैंने पाया !

[२]

"अरे ओ मेरे मार्ग महान ,
कण्टको से तू क्यों छाया ?
हाय ! कैसा तेरा यह ज्ञान ,
किसे यो तूने अपनाया ?"

बन्धु, यदि है तुझको कुछ इष्ट
नहीं तो ये कण्टक भी क्लिष्ट ।

बढ़ा कर निज पद दृढ़ता-पूर्ण
इन्हें कर दे तू चूर्ण-विचूर्ण ।
रोकने जाकर तेरी राह
बढ़ा देंगे ये गति-प्रवाह ।
तुझे होगा जो पीड़ा-बोध ,
वही तेरे पथ-ऋण का शोध ।
दूर कर चिन्ता का गुरु-भार ,
इन्हें जब कर लेगा तू पार ,
विजय का रक्त-तिलक निष्पाप
पदों पर आ लोटेगा आप
तभी होगा तुझको यह ज्ञान ,
कण्टको से मैं क्यों छाया ;
अरे ओ मेरे पथिक सुजान ,
इन्हें मैंने क्यों अपनाया ।

मार्गशीर्ष कृष्ण
१४–'९०

अमर

[१]

अमर हूँ मै ओ काल कराल ,
　　कर सकेगा तू क्या मेरा ,
रहूँगा जीवित मै चिरकाल ,
　　व्यर्थ यह भ्रू-कुंचन तेरा !

उड़ा कर रज ही रज सब ओर ,
भयंकर झंझा में झकझोर
उच्च मेरे जीवन का झाड़
उखाड़ेगा तू ? अरे उखाड़ !

देख लूँ मै भी तेरा तेज ।
मिली आहा ! यह तो सुख-सेज !
हुआ निष्फल तेरा वह रोष ;
सुरक्षित है मेरा मधु-कोष ।
एक ही था मै, अब हूँ चार ;
नये अंकुर ये नेक निहार ।
पल्लवो का पलना यह डाल
झूलता है नव-तन मेरा ;
जी रहा हूँ यह मै ओ काल ,
व्यर्थ था भ्रू-कुंचन तेरा !

[२]

अमर हूँ मै ओ काल-कृशानु ,
हर सकेगा तू क्या मेरा ?
रहे तू कैसा ही वृष-भानु ,
व्यर्थ है कोपानल तेरा !

निरन्तर होकर प्रखर प्रचण्ड ,
तान कर अपना कटु-कोदण्ड ,
हमारे जीवन-नद का स्रोत
सोख लेगा तू ओत प्रोत ?
सोख ले, तो यह भी कर देख ,
नीर पर होगा वह जय-लेख !
कर लिया तूने अपना काम ,
किन्तु मैंने पाया विश्राम ।
जलद-यानों पर रख निज भार ,
कर रहा हूँ मैं व्योम-विहार !
बरस यह पड़ा अजस्र अपार
चपल-चञ्चल नव-जल मेरा ;
तरंगित है यह अचलाकर ,
व्यर्थ था कोपानल तेरा !

मार्गशीर्ष कृष्ण
३०–'९०

आकांक्षा

[१]

वत्स, निज गति का यह उल्लास
मुझे भी दिखला जा, आ पास !

खड़ा था मैं तुमसे कुछ दूर,
मुझे लख किलका तू भरपूर।
क्षुद्र दोनों पद थे सुकुमार,
न सह सकते थे निज गति-भार।
बढ़ा फिर भी तू मेरी ओर,
भूल तन की सुध हर्ष-विभोर।
भूमि ऊँची-नीची, असमान;
बीच का था कठोर व्यवधान।
न करके निज सामर्थ्य-विचार
किया तूने निज गति-विस्तार।

फिसल कर सहसा तू निरुपाय ,
गिर पड़ा धम-से भू पर हाय !
किन्तु तत्क्षण ही ओ अम्लान ,
किया तूने निज गात्रोत्थान ।
प्राप्त कर वही पूर्व की चाल ,
यहाँ आ लिपटा तू तत्काल ।

वत्स, मै भी गिर-उठ गतत्रास ,
किसी से जा लिपटूँ सोल्लास !

[२]

वत्स, तू बना रहा सस्नेह ,
अहा ! अपना यह सैकत-गेह ,

तरङ्गित है सरिता का नीर ,
सुविस्तृत है उसका यह तीर ।
यहाँ कुछ गहरी बालू खोद
बनाया तूने कूप समोद ।

इसीमें से निज नव जल खींच ,
रेत की इस ढेरी को सींच ,
उठाई है तूने यह भीत ;
धेनु-गृह होगा यहाँ प्रणीत।
रसोई-घर होगा उस ठौर ;
वहाँ बैठक होगी, वह पौर !
किन्तु तेरे ये विमल विचार
प्राप्त कर सके न निज आकार।
अचानक ही फिसली कुछ रेत ,
धसक कर गिरा अपूर्ण निकेत।
विफल भी शिशु तू अहा ! सहास
बनाने लगा वही आवास !

हर्ष-क्रीड़ा यह ओ गुण-गेह ,
मुझे भी सिखला जा सस्नेह !

मार्गशीर्ष शुक्ल
४–'९०

स्नेह-रीति

"दीप, तू जागृत रहा है रात भर
        और मैं बेसुध पड़ा सोता रहा।
हाय, अत्याचार यह निज गात पर,
        स्नेह-सह तू प्रज्वलित होता रहा।"

"प्रज्वलित होता रहा, अच्छा हुआ,"
        दीप बोला—"जागना मेरा सफल।
अब सुजागृति ने तुझे आकर छुआ,
        पा सकूँगा सुप्ति-सुख मैं भी विमल!"

मार्गशीर्ष शुक्ल
५–'९०

तिमिरालोक

झोका हा ! यह किस कुटिल वायु का आया !
मेरा दीपक बुझ गया अँधेरा छाया ।
आँखें रहते भी हुआ अन्ध-सा सहसा ;
मेरा क्षण क्षण युग-कल्प हुआ दुस्सह-सा ।

यह महाकाल किस छिपी अनल में जल कर
हो गया कोयला, रह न सका स्थिर पल भर !
मै निस्सहाय, हो गई अचल यह काया ,
झोका हा ! यह किस कुटिल वायु का आया !

तिमिरालोक

आया यह तो है बन्धु, इसे आने दे,
यह काला क्षण, धर धैर्य, चला जाने दे।
तू उसी ज्योति से देख रहा था पहले,
निज नेत्रों से अब लगा देखने, यह ले !

क्षण में ही यह तम हुआ विभासित इतना,
तेरी यात्रा के लिए इष्ट है जितना।
आगे बढ़, तूने एक प्रदीप गँवाया,
तो तारों का ध्रुव-प्रभा-पुञ्ज तो पाया !

मार्गशीर्ष शुक्ल
६–'९०

असफल

घोषित है तुझको ही लेकर
आज विपक्ष-विजय-भेरी ,
असफल है हे बन्धु, आज तू ,
आज यही जय है तेरी !

वे संगी-साथी भी तेरे
तुझको छोड़ गये हैं आज ,
जो सम्बन्ध स्वयं जोड़ा था
उसको तोड़ गये हैं आज ।

जो तेरे पीछे थे, बढ़कर
मिले दूसरों से आगे ,
जो तेरा मुहँ जोह रहे थे
सब मुहँ मोड़ गये है आज ।

कर लेगी आच्छन्न तुझे क्या
व्यंग्य-हास की यह ढेरी ?
घोषित है तुझको ही लेकर
आज विपक्ष-विजय-भेरी !

अविजय के इस नवावरण मे
तेरी जय ही है आई,
इस कुत्सित कुत्सा के भीतर
तेरी स्तुति ही है छाई।

तू आगे बढ़ता आया है
आघातो-प्रतिघातो में,
ऊँचा सिर कर खड़ा रहा है
पीड़न के पवि-पातो में

कुंठित हुई न तेरी वाणी
यद्यपि रूँधा गया गला;
हुई सुदृढ ही तेरी दृढ़ता
संकट के संघातो में।

तुझे प्राप्त कर असफलता ने
सुकृति-सफलता है पाई,
अविजय के इस नवावरण में
तेरी जय ही है आई।

बद्ध नहीं है जय की जयता
केवल झड़ते फूलों में ,
खिल पड़ती है कभी कभी वह
कण्टक-तरु के झूलों में ।

यह अविजय ऐसी है, इसमें
तू नव-शोभा पाता है ,
मृत्युञ्जय के अतुल कण्ठ में
गरल अमृत बन जाता है ।

नहीं झिझकती है दीपावलि
अन्ध-अमा में आने से ,
गिर कर पंकिल भी ओ घन-जल ,
किसे नहीं तू भाता है ?

ऊपर ही है तू गौरव से
इस शय्या के शूलों में ,
बद्ध नहीं है जय की जयता
केवल झड़ते फूलों में !

इस निष्फलता की तमसा मे
बन्धु, आज तू कर विश्राम ,
नव जागृति की मूर्त्ति उषा ही
इस तमसा का है परिणाम ।

नहीं आज मे ही परिसीमित ,
है असीम यह काल विराट ,
कल का पथ क्या रोक सकेगा
तुच्छ आज के उर का पाट ।

जो तेरा उपहास कर रहे
आज तिरस्कृत कर तुझको
कल ही वे तेरे कीर्त्तन से
गुंजित कर देंगे पथ-घाट ।

होगा, हाँ निश्चय ही होगा
पूर्ण सफल तेरा शुभ-काम ;
इस निष्फलता की तमसा में
बन्धु आज तू कर विश्राम ।

मार्गशीर्ष शुक्ल
१३—'९०

शुभागमन

चक्रपाणिता तज, धोने को
पाप-पंक के परनाले,
आहा ! आ पहुँचा मोहन तू
विप्लव की झाड़ूवाले !

आवर्जन के ढेर हमारे
इस आँगन में फैले है ;
ऊपर से हम स्वच्छ बने जो
हृदय हमारे मैले हैं।
हम सारे जग के अछूत जो ,
उच्च कह रहे है निज को ;
इस घर के सारे के सारे
वातावरण विषैले है।

आज झाड़ देगा निश्चय ही
तू इस जड़ता के जाले ;
आ पहुँचा तू अहा ! अचानक
विप्लव की झाड़ूवाले।

खोल सकेगा खट-से तू ही
उर उर के अवरुद्ध कपाट ,
हमें खड़ा करके चौड़े में
देगा तू भय-बन्धन काट।

दृष्टि हमें देगा ऐसी तू
देखेंगे हम विस्मय से—
क्षुद्र नहीं है हम, हममें ही
है यह तेरे तुल्य विराट !

क्या चिन्ता, यदि पिये पड़े हम
इस बेसुधपन के प्याले ,
आ पहुँचा तू अहा ! अचानक
विप्लव की झाड़ू वाले ।

मधुर हुआ तेरी वाणी में
आकर विप्लव का हुंकार ;
जा पहुँचा उर के भीतर वह
करके कितने ही स्तर पार ।
पड़े पंगु-से थे अब तक जो
प्रस्तुत है चल पड़ने को ;
तू आगे आगे है पथ के
काँटो का क्या सोच-विचार ?

नहीं हमें ही, सारे जग को
तेरी पावनता छा ले ;
आ पहुँचा तू अहा ! अचानक
विप्लव की झाड़ूवाले ।

निगल रही है इस जगती को
लौह-यन्त्रिणी दानवता ;
पड़ी धूल में है बेचारी
आज विश्व की मानवता ।
दान अभयता का दे तूने
उसे उठाया नीचे से ,
फिर से झलक उठी है उसमें
जागृत जीवन की नवता ।

छिन्न-भिन्न हो उठे शीघ्र ही
हिंसा के बादल काले ,
आ पहुँचा तू अहा ! अचानक
विप्लव की झाड़ूवाले ।

तूने हमें बताया—हम सब
एक पिता की है सन्तान ,
है हम सब भाई भाई ही ,
है सबके अधिकार समान ।
नहीं रहेंगे मानव हम यदि
मानव ही को पीसेंगे ;
सत्य, अहिंसा, निखिल-प्रेम में
गूँज उठा तेरा जय-गान !

टूटे तेरे मृदु प्रहार से ,
पड़े बुद्धि पर थे ताले ;
आहा ! आ पहुँचा बापू, तू
विप्लव की झाड़ूवाले !

पौष कृष्ण
१–'९०

आह्वान

"सुनो, सुनो आ पहुँचा हूँ मैं
 पावस-राजदूत वैशाख ;
बोलो आज कौन क्या देगा ?
 मेरी कटुता की है साख !"

पहले पुण्य-योग हम लेंगी ;
अपने पत्र-पुष्प दे देंगी ;
खिल कर इस तप में झुलसेगी
करके निज मृदुता की राख ।
हम लतिकाएँ और अधिक क्या
दे सकती है हे वैशाख !

"सुनो, सुनो, आ पहुँचा हूँ मै
पावस-अग्रदूत यह ज्येष्ठ ;
बोलो, आज कौन क्या देगा ,
किसके पास कौन धन श्रेष्ठ ?"

धन्य आज का यह दिन आया !
गन्ध-रूप-नवरस मनभाया ,
नव वसन्त जो कुछ भी लाया
क्या यह सब होगा न यथेष्ट ?
हम तरुओ के पास नहीं है
इससे और अधिक हे ज्येष्ठ !

"सुनो, सुनो, आ पहुँचा हूँ मैं
पावस-केतु-वाह आषाढ़ ;
बोलो, आज कौन क्या देगा ,
अपना तप परिपूर्ण प्रगाढ़ ?"

आओ, स्वागत है अभिवन्दन !
करके ओत-प्रोत प्राण-मन
हमें दे गई थी जो जीवन
किसी अन्य गौरव की बाढ़ ,
ग्रहण करो, हम जलाशयों का
अन्तिम दान यही आषाढ़ !

पौष कृष्ण
३—'९०

कसक

आया,—जब सहसा आया यह
श्रावण घन-वर्षण के सङ्ग ,
फूल उठे मेरे उपवन की
सुरभी लतिका के सब अङ्ग ।

पत्र-हीन इस तरु की काया
पाकर ऊपर की घन-छाया
प्राप्त कर रही प्राप्य सवाया ;
भीतर-बाहर से रस-रङ्ग ;
आया,—जब सहसा आया यह
श्रावण घन-वर्षण के सङ्ग !

भीतर तक का भी निज-रस खो ,
सूखा था मेरा मानस जो
इस प्रमोद्-वन्या के वश हो
ऊपर उमड़ पड़ा स-उमङ्ग ;
आया,—जब सहसा आया यह
श्रावण घन-वर्षण के सङ्ग ।

ग्रीष्म-करों से, कर कुछ आशा ,
बचा लिया था एक जवासा ;
हाय ! वही मुरझा-मुरझा-सा
कसक यही है आज अभङ्ग ;
आया,—जब सहसा आया यह
श्रावण घन-वर्षण के सङ्ग ।

पौष कृष्ण
५-'९०

शंख-नाद

मृत्युञ्जय, इस घट में अपना
कालकूट भर दे तू आज ;
ओ मंगलमय, पूर्ण, सदाशिव ,
रुद्र-रूप धर ले तू आज !

चिर-निद्रित भी जाग उठें हम ,
कर दे तू ऐसो हुंकार ;
मद-मत्तों का मद-उतार दे
दुर्धर, देरा दण्ड-प्रहार ।

हम अन्धे भी देख सके कुछ ,
धधका दे प्रलय-ज्वाला ;
उसमें पड़कर भस्म-शेष हो
है जो जड़ जर्जर निस्सार ।

यह मृत-शान्ति असह्य हो उठी ,
छिन्न इसे कर दे तू आज ;
मृत्युञ्जय इस घट में अपना
कालकूट भर दे तू आज !

ओ कठोर, तेरी कठोरता
करदे हमको कुलिश-कठोर ;
विचलित कर न सके कोई भी
झंझा की दारुण झकझोर ।

सिर के ऊपर के प्रहार सब
सुमन-समूह-समान झड़े ,
पैरो के नीचे के काँटे
मृदु-मृणाल से जान पड़े ।

भय के दीप्तानल में धँस कर
उसे बुझा दे पैरो से ;
छाती खोल, खुले में अड़कर
विपदाओ के साथ लड़ें ।

तेरा सुदृढ कवच पहने हम
घूम सकें चाहे जिस ओर ;
ओ कठोर, तेरी कठोरता
कर दे हमको कुलिश-कठोर ।

ओ दुस्सह, तेरी दुस्सहता
सहज सह्य हमको हो जाय ;
तेरे प्रलय-घनो की धारा
निर्मल कर हमको धो जाय !

अशनि-पात में निर्घोषित हो
विजय-घोष इस जीवन का ;
तड़ित्तेज में चिर ज्योतिर्मय
हो उत्थान-पतन तन का ।

बन्धन-जाल तोड़कर सहसा
इधर-उधर के कूलों का ,
तेरी उच्छृंखल वन्या में
पागलपन हो इस मन का ।

निजता की संकीर्ण क्षुद्रता
तेरे सुविपुल में खो जाय ;
ओ दुस्सह, तेरी दुस्सहता
सहज-सह्य हमको हो जाय ।

ओ कृतान्त, हमको भी दे जा
निज कृतान्तता का कुछ अंश ;
नई सृष्टि के नवोल्लास में
फूट पड़े तेरा विध्वंश ।

नव-भूखण्ड अमृत के घट-सा
दे ऊपर की ओर उछाल ,—
सागर का अन्तस्थल मथ कर
तेरे विप्लव का भूचाल ।

जीर्ण शीर्णता के दुर्गों को ,
कुसंस्कार के स्तूपों को
ढा दे एक साथ ही उठ कर
दुर्जय, तेरा क्रोध कराल ।

कुछ भी मूल्य नहीं जीवन का
हो यदि उसके पास न ध्वंस ;
ओ कृतान्त, हमको भी दे जा
निज कृतान्तता का कुछ अंश ।

ओ भैरव, कवि की वाणी का
 मृदु माधुर्य लजा दे आज ;
वंशी के ओठो पर अपना
 निर्मम शंख बजा दे आज !

नभ को छूकर दूर दूर तक
गूँज उठे तेरा जय-नाद ;
घर के भीतर छिपे पड़े जो
बाहर निकल पड़ें साल्हाद ।

तिमिर-सिन्धु में कूद, तैर कर
सुप्रभात-से उठ आवें ;
निखिल संकटो के भीतर भी
पावें तेरा पुण्य-प्रसाद ।

जीवन-रण के योग्य हमारा
 निर्भय साज सजा दे आज ,
ओ भैरव, कवि की वाणी में
 निर्मम शंख बजा दे आज ।

पौष अमावस्या
 १९९०

भ्रान्ति-मोचन

[१]

विधे, कैसा तेरा यह दान!
दूर विजन मे सबसे नीचे
कीच-कुण्ड में स्थान।
हाय रे, कैसा तेरा दान!

सुन ओ, तू तो चिर निर्मल है;
चिन्ता क्या, यदि सुकृति प्रबल है?
तुझमें मधु-माधुर्य अचल है।
खिल उठ, पद्म-प्रमाण!
नहीं है कुत्सित तेरा स्थान।

नहीं है कुत्सित मेरा स्थान?
समझा, अब समझा, निश्चय ही
तेरा वह वर-दान!

[२]

विधे, यह कैसा मेरा पाप ?
मेरे मस्तक पर कलंक की ,
कालिख की यह छाप !
हाय रे, कैसा मेरा पाप !

सुन ओ, तेरा पुण्य निराला ;
भय क्या, यदि तुझमें कुछ काला ?
कर दे चारों ओर उजाला ;
सुप्रदीप तू आप ;
भाग्य की ही तुझ पर यह छाप !

भाग्य की ही मुझ पर यह छाप ?
समझा, अब समझा, निश्चय ही
हूँ मैं शुचि निष्पाप !

पौष शुक्ल
४–'९०

वीर-वन्दना

[१]

हे प्रच्छन्न प्रवीर, कौन तुम ,
कहाँ तुम्हारा स्थान ?
निष्ठुर जग ने दिया नहीं है
तुम्हे मान-सम्मान ।

किस कुज्झटिकावृत दिन में तुम
उदित हुए थे हाय !
बालारुण-सम, तरुण-तेज से
दीप्त समुज्वलकाय ।

तुमको देखा नहीं किसीने ,
किया नहीं जय-गान ;
वह जन्मान्ध दिवस हा ! तुमसे
कर न सका पहचान ।

फिर भी देते रहे अन्त तक
उसे जीवनालोक,
महादानि, तुम कुछ न समझ कर
पथ-बाधा को रोक।

छिपे-छिपे ही पूर्ण न करते
यदि उस दिन का काज,
इस प्रसन्न दिन की यह लाली
रहती कैसे आज?

विस्मृति-तम के महासिन्धु में
होकर भी तल्लीन,
प्रति दिन के उन्मुक्त तपन में
हो तुम नित्य-नवीन।

अपने प्रकट प्रभाकर को ही
कर निज श्रद्धा-दान,
कवि करने बैठा है सादर
आज तुम्हारा मान।

[२]

हे चिर लाञ्छित शूर, कौन तुम ?
हमें नहीं यह ज्ञात,
फिर भी आ पहुँची इस उर तक
आज तुम्हारी बात।

किस अविनीत अनय के भृगु से
पाकर पद-प्रहार,
पाया तुमने अपने उर पर
मणि-चिन्हालंकार ?

किस निर्दय के क्रूर-पाश में
बँध स्वेच्छा के साथ,
अरि-गृह मे भी महावीर, तुम
रहे समुन्नत माथ ?

अविचारी के अनल-कुण्ड में
गहरी डुबकी मार ,
किस पापी की स्वर्ण-पुरी भी
की थी तुमने छार ?

किस दुर्मुख की व्यंग-कालिमा
अपने ऊपर पोत ,
रहे समुज्वल मधुर-हास से
होकर ओतप्रोत ?

वह कोई हो, उस दुर्मद के
दिये हुए वे घाव ,
निशि-दिन महज्जनों के मन में
उपजाते है चाव ।

आज सह रहे हो जो तुम-सा
उत्पीडन अपमान ,
हे अनजान, तुम्हारा ही है
उन सबका जय-गान ।

[२]

हे ध्रुव-धीर, प्रकाश-ख्याति की
भला तुम्हे क्या चाह ?
दिग्भ्रान्तों को तम में भी तुम
दिखलाते हो राह।

करके भी वहु विगत युगों में
जीवन-कार्य समाप्त,
महाकाल के चिर जीवन के
पल पल में तुम व्याप्त।

माँ के संकट-शील धैर्य में
कर निज ओज प्रसार,
मृदुल रूप में दीख पड़े तुम
शिशु को पहली वार।

स्वतः मधुर माँ के उस पय में
बालक ने मुद मान ,
किया तुम्हारे ही प्राणो की
उज्वलता का पान ।

भर उसके मन में अपना ही
चिर-कांक्षित अज्ञान ,
सिखलाया तुमने,—विषधर भी
है लघु रज्जु-समान ।

खेल खेल में बता दिया यह—
है जो शुचि अकलंक ,
मलिन नहीं कर सकता उनको
जगती का रज-पंक ।

माँ की सहज सरस वाणी से
सुन पहला आख्यान ,
बालक को जो पुलक हो उठा
वही तुम्हारा मान !

[४]

अन्तहीन जयशील सदा तुम
हे विक्रान्त, अशान्त ,
किये हुए हो निखिल चराचर
निज बल से आक्रान्त ।

महाशैल के महत् शृङ्ग-मिष ,
तुम ओ महा विशाल ,
अयुत युगों से अचल-अटल हो
उन्नत कर निज भाल ।

कठिन प्रस्तरों की कारा का
निर्मम वक्ष विदार ,
बहा रहे हो अपने यश की ,—
सुर-सरिता की धार ।

ऊपर उठकर, पृथ्वी-तल के
धूलि-पंक के पार
किये हुए हो इस अनन्त में
निजता का विस्तार।

दुर्गमता में भी स्थापित कर
अपना राज्यातंक,
वन-वन में तुम विचर रहे हो
शूरसिंह, निश्शंक।

क्षुद्रांकुर को भी दे तुमने
भूमि-भेदिनी शक्ति,
हरित-भरित प्रत्येक क्षेत्र में
की अपनी ही व्यक्ति।

चिर-उच्छृंखल भाव-राशि को
निज भाषा से जीत,
गान तुम्हारा ही करते हैं
कवियों के कल-गीत!

[५]

अहो तरुण, हिम-ताप-वृष्टि सब
सहकर भी द्युतिमन्त ,
प्राचीना पृथ्वी के यौवन
हो तुम सरस-वसन्त ।

महाकाल के नव नव रस को
पी पीकर बहु वार ,
पाया है तुमने अपने मे
नवस्फूर्त्ति संचार ।

झाड़ दिया है पतझड़-सा कर
जड़ता का जञ्जाल ।
बद्ध तुम्हारे पद-बन्धन में
बन्ध-हीन लय-ताल ।

दीपित उल्का-से तुम, तुमको
किस तम का संकोच ?
सुप्रभात-से तुम, तुमको किस
काल-निशा का सोच ?

किसी देश में, किसी काल में
नहीं कहीं तुम म्लान ;
सुना तुम्हींने सबसे पहले
संकट का आह्वान ।

दौड़ पड़े तुम उसके पीछे
पथ-बाधाएँ ठेल ,
अहो तरुण-शिशु, उस संकट से
खेला तुमने खेल !

उसके मद से भर ओठों तक
अपना जीवन-पात्र ,
नहीं खो दिया फिर भी तुमने
आत्म-बोध अणुमात्र ।

तुम अपने प्रति पद-क्षेप में
चिन्हित कर निज छाप,
नवतीर्थों की नवस्थापना
करते गये अमाप।

सुनकर हिंसक काल-फणो की
दर्पोद्धत फुङ्कार,
उसे पकड़ कर तुमने उससे
किया रौद्र श्रृङ्गार।

सब अवाक है रूप देख वह
मन मे विस्मय मान;
यह अवाक ही अहो तुम्हारा
है सच्चा जय-गान!

पौष शुक्ल
१३-'९०

दयनीय

(बाहर)

रंग-भूमि के राज-भवन में
            राज-विभव मे लीन ,
उच्च अलंकृत सिंहासन पर
            नृपवर थे आसीन ।

झलमल-झलमल वस्त्राभूषण
            गौर-कान्ति अवदात ,
दीपों के उज्वल प्रकाश में
            दमक रहा था गात ।

देख रहा था मैं शिशु दर्शक
            विस्मय-मुग्ध, विमूढ़ ,
निखिल दृश्य मेरे समक्ष था
            चिर-रहस्य-मय, गूढ़ ।

सहसा एक भृत्य के ऊपर
बिगड़ पड़े भूपाल ;
रंचमंच पर उत्थित होकर
प्रकट हुआ भूचाल ।

काँप उठा वह भृत्य मंच पर
मै भी उसके साथ ;
मूँद लिये मैने दृग अपने
झुका लिया निज माथ ।

सारे के सारे दर्शक जन ,—
हुआ मुझे यह बोध ,—
स्तब्ध रह गये, सह न सके हैं
नृपवर का वह क्रोध ।

आह ! कहीं पा सकता मै भी
नरपति का पद-मान ,
डरते सब मन-ही-मन मुझको
मुझे श्रेष्ठ जन जान !

(भीतर)

अभिनय पूरा हुआ, गये सब
दर्शक निज निज ठौर ;
दीप बुझ गये अन्धकार में
रह न गया कुछ और ।

मैं बालक चढ़ गया मंच पर
सोचा, यह नेपथ्य ,
देखूँ तो इसके भीतर है
क्या रहस्य, क्या तथ्य ।

कौतूहल-वश झाँका मैंने
खिसका कर पट-छोर ,
थी विशृङ्खला ही विशृङ्खला
इधर-उधर सब ओर ।

बाहर बना हुआ था गर्वित
जो सबका अधिराज,
भीतर उस पर मुकुट न था अब
और न था वह साज।

बैठा था नीचे धरती पर
उसी भृत्य के पास
न थी वहाँ वह पद-मर्यादा,
न था विभव का हास।

एक तीसरा स्वामि-भाव से
खड़ा हुआ कुछ दूर,
डाँट रहा था किसी भूल पर
उस 'नृप' को भरपूर।

भय से उतर गया मुँह उसका,
पर था 'भृत्य' प्रसन्न;
विस्मित मेरे मन में नृप पर
दया हुई उत्पन्न !

आश्विन शुक्ल
११–'९१

अक्षत-दान

महाभिक्षु, तेरी झोली में
डालूँ मै क्या आज ?
मेरे धन में है निर्धनता ,
तन में, मन में लाज ।

सहसा मुझे पुकारा तूने
आकर मेरे द्वार ;
तू बाहर है, मेरे भीतर
कुण्ठा का व्यापार ।

अटल देख कर तुझे, किसी विध
निकला मै लाचार ,
ले निज अञ्जलि में माँगे के
अक्षत-कण दो चार ।

बन्धु, बाँध रक्खो मत मुझको ,
मै मलियानिल मुक्त ;
जाकर ही फिर लौट सकूँगा
नव-नूतन मधु-युक्त ।

गृह-कपोत हूँ मैं, उड़ने दो
मुझको पंख पसार ;
नहीं हर सकेगा अनन्त भी
मेरे घर का प्यार ।

चिन्ता की क्या बात, सखे, यदि
हूँ मै पूरा वर्ष ,
लौट पड़ूँगा क्षण में ही मै
ले नूतन का हर्ष ।

पौष पूर्णिमा—'९०
३१ दिसम्बर १९३३
चिरगाँव

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त लिखित—

साकेत

यह अनूठा महाकाव्य कवि की आजीवन साधना का फल है। भाव, भाषा, माधुर्य, ओज और विषय सब दृष्टियों से यह अभूतपूर्व है। इस काव्य से हिन्दी भाषा का मस्तक ऊँचा हुआ है। भारतीय संस्कृति का जैसा उज्वल आदर्श इसमें उपस्थित किया गया है, वैसा दूसरी जगह मिलना कठिन है। ऐसे महत्व पूर्ण ग्रन्थ शताब्दियों में एक आध ही लिखे जाते है। आलोचकों ने इसे अभिनव रामचरितमानस कह कर सम्मानित किया है। मोटे ऐण्टिक कागज पर सुन्दरतापूर्वक मुद्रित। पृष्ठ संख्या ४५० तृतीयावृत्ति। मूल्य ३)

प्रबन्धक—

साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)

गुप्तजी लिखित अन्य काव्य ।

यशोधरा	१॥)	
द्वापर	१॥)	
सिद्धराज	१।)	
गुरुकुल	२)	
हिन्दू	१)	१।)
विकट-भट	=)	
त्रिपथगा	१॥)	
किसान	।=)	
भारत-भारती	१)	१॥)
जयद्रथ-वध	॥)	१)
पञ्चवटी	।=)	
शकुन्तला	।=)	
रंग में भंग	।)	
स्वदेश-सङ्गीत	॥।)	
चन्द्रहास	॥।)	
तिलोत्तमा	॥)	
मंगल-घट	२)	

प्रबन्धक—
साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

श्रीसियारामशरणजी गुप्त की रचनाएँ।

आर्द्रा	(कविता)	१)
विषाद	,,	।–)
मौर्य्य-विजय	,,	।)
दूर्वा-दल	,,	॥=)
अनाथ	,,	।)
बापू	,,	॥)
मृण्मयी	,,	१।)
आत्मोत्सर्ग	,,	।=)
पुण्य-पर्व	(नाटक)	॥।)
मानुषी	(कहानी संग्रह)	१)
गोद	(उपन्यास)	१।)
अन्तिम आकांक्षा	,,	१॥)
नारी	,,	१॥)

प्रबन्धक—

साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)

अन्यान्य ग्रन्थ ।

मेघनाद-वध	३॥)
वीराङ्गना	१)
विरहिणी व्रजाङ्गना	।)
पलासी का युद्ध	१॥)
रुबाइयात उमरखैयाम	३)
स्वप्न वासवदत्ता	॥=)
सुमन	१)
पृथ्वी-वल्लभ	१॥)
पुरातत्त्व-प्रसङ्ग	॥=)
प्रबन्ध-पुष्पाञ्जलि	॥=)
गीता-रहस्य	२॥)
रेणुका	॥=)
सुनाल	॥=)
चित्राङ्गदा	।=)
मधुकरशाह	।)
गोकुलदास	।)
हेमला सत्ता	।–)

प्रबन्धक—

साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)